IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

आदिवासी विमर्श: एक अध्ययन

डा0 आनंद कटारे
सहायक आचार्य शिक्षासंस्थान
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय,झाँसी

अनिल कुमार
सहायक आचार्य शिक्षासंस्थान
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय,झाँसी

शोध-सारांशः

आदिवासी विमर्श बीसवीं सदी के अंतिम दशकों में शुरू हुआ अस्मितामूलक विमर्श है। मूलतः यह अस्तित्व और अस्मिता का विमर्श है। भारत में आदिवासी मुख्य रूप से झारखंड, छतीसगढ़, दार्जिलिंग, उड़ीसा, राजस्थान, मध्य-प्रदेश आदि राज्यों में बहुल संख्या में पाये जाते हैं। इस आलेख में आदिवासी समाज की पीड़ा, संघर्ष, विस्थापन का दर्द, आदिवासी स्त्रियों की दशा का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। आदिवासियों के बारे में जानने एवं समझने के लिए उनके बीच जाना बहुत जरूरी है। प्रख्यात आदिवासी लेखिका महाश्वेता देवी कई वर्षों तक आदिवासियों के बीच रही; उनके सुख-दुःख का हिस्सा बनी। उनके जीवन और समाज को गहराई से समझने के पश्चात ही आदिवासियों के अनुरूप समस्याओं को अभिव्यक्त कर पाई। इस उत्कृष्ट लेखन कार्य के लिए वे आदिवासी समाज के बीच 'माँ' उपनाम से लोकप्रिय हो गई। महाश्वेता देवी को आदिवासी साहित्य लेखन के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार पद्मश्री, ज्ञानपीठ पुरस्कार, पद्म विभूषण से सम्मानित किया गया। साहित्य अकादमी से पुरस्कृत इनके उपन्यास 'अरण्येर अधिकार' आदिवासी नेता बिरसा मुंडा की गाथा है। ये आदिवासियों के भगवान स्वरूप माने जाते हैं। आदिवासी विमर्श का प्रमुख कारण भारत में शुरू हुई उदारीकरण और मुक्त व्यापार की व्यवस्था है। इनकी मूलभूत संपत्ति जलु, जंगल, जमीन पर से आधिपत्य दिकुओं (शहरी लोग) द्वारा छिन लिया गया, जिससे इनका जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। मजबूरन लोगों को शहर की ओर विमुख होना पड़ा। भूमंडलीकरण के कारण सभी देश एक-दूसरे के करीब आ रहे हैं परन्तु, देश का मूलनिवासी आज भी पहाड़ी जंगलों में रहने के लिए मजबूर है। विकास की कोई सड़क उन तक नहीं पहुँच पाती। शिक्षा, बेरोजगारी, स्त्री का दर्द, भुखमरी, शराब आदि की समस्या चरम पर है। जिस जल, जंगल, जमीन के सहारे इनका भरण-पोषण एवं सुकून भरा जीवन व्यतीत हो रहा था उस पर भी इन शहरी व्यवसायी की नजर लग गई। अनेक लेखकों, कवयित्रियों ने अपनी लेखनी के माध्यम से उपर्युक्त समस्याओं को स्वर प्रदान की है। इनमें प्रमुख हैं- वाल्टर भेंगरा, एलिस एक्का, महाश्वेता देवी, निर्मला पुतुल, रमणिका गुप्ता, हरिराम मीणा, महुआ माजी आदि। इनकी रचनाओं में आदिवासियों के 'अस्तित्व' एवं 'स्वर' को प्रमुखता दी गई है एवं उनकी समस्याओं के लिए आवाज उठाई गई है वाल्टर भेंगरा ने झारखण्ड

अंचल और वहाँ के जीवन को केन्द्र में रखते हुए 'सुबह की शाम' उपन्यास लिखा। इसे हिंदी का पहला आदिवासी उपन्यास माना जाता है। इसी श्रेणी में एलिस एक्का का नाम अग्रणी है, जो हिन्दी की पहली महिला आदिवासी कथाकार के रूप में विख्यात है। 'एलिस एक्का की कहानियाँ' संकलन में एलिस की कुल छह कहानियाँ शामिल हैं- 'वनकन्या', 'दुर्गों के बच्चे और एल्मा की की कल्पनाएँ', 'सलगी, जुगनी और अंबा गाछ' 'कोयल की लाडली सुमरी', 'पंद्रह अगस्त', 'बिलचो और रामू' और 'धरती लहलहाएगी, झालो नाचेगी गाएगी।' ये कहानियाँ हम सब को आदिवासी समाज के यथार्थ से परिचित कराती है। इनकी कहानी के संदर्भ में उपन्यासकार विनोद कुमार कहते हैं- "आदिवासी समाज में गद्यात्मक लेखन के प्रति वैसा रूझान नहीं है, पर साठ के दशक में ही एलिस एक्का सधी हुई कहानियाँ लिख रही थीं। उन्होंने समाज और परिवेश को अपनी छोटी कहानियों में समेटने का कठिन कार्य किया है। उनकी कहानियों में आदिवासी समाज के सुख-दुख, उल्लास-आनंद और भविष्य के प्रति आशावादिता नजर आती है। डॉ० माया प्रसाद मानती हैं- एलिस एक्का ने अपने समाज को कहानियों के द्वारा लोगों तक पहुँचाने का बीड़ा उठाया था। वहीं फादर पीटर पॉल कहते हैं, 'एलिस एक्का की आपबीती, अनुभवों से निकली कहानियाँ हैं जो दिल को सुकून देती है।"(1)

एलिस की कहानियों की भाषा आदिवासी हिन्दी है। वे नागपुरी, मगहीं, खोरठा भाषाओं का भी प्रयोग संवादों में करती हैं। समानता, सहअस्तित्व, स्त्री-पुरुष के बीच बराबरी, सामूहिकता आदि जीवनमूल्य का वर्णन एलिस एक्का की कहानियों की विशेषता है।

शब्द कुंजीः जल, जंगल, भूमि, अधिकार, आँचलिक, आदिवासियों, प्रकृति; धारणा, अस्मिता, उदारता, भूमंडलीकरण, संघर्ष, आदिम जातियाँ। कम्यूनिटी, फ़्लोरिडा, फ़्लामीपन, परदेशी, शराब, रूमानी, उलगुलाना आदि।

प्रस्तावनाः-

किसी भी विमर्श के केन्द्र में वर्ग, समुदाय व्यक्ति के अस्तित्व, अधिकार एवं संघर्ष ही प्रमुख होते हैं। आदिवासी विमर्श भी आदिवासी की पहचान, उसके अस्तित्व संबंधी संकटों और उसके खिलाफ जारी प्रतिरोध का साहित्य है। प्रतिरोध अस्मितामूलक साहित्य की प्रमुख विशेषता है।

वस्तुतः यह विमर्श देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति भेदभाव का विरोधी है। यह जल, जंगल, जमीन और जीवन की रक्षा के लिए आदिवासियों के अधिकार की माँग करता है।

'आदिवासी' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है- आदि और वासी। आदि का 'मूल' और वासी का अर्थ 'निवासी' है। अतः आदिवासी से तात्पर्य धरती के मूल निवासी से हैं, जो घने जंगलों, ऊँचे पर्वतों और दुर्गम घाटियों में निवास करते हैं। इसे आदिम युग में रहने वाली जातियाँ भी कहा जाता है। मूलतः

यह वे जातियाँ हैं जो 5000 वर्ष पुरानी भारतीय सभ्यता को संजोये हुए हैं। प्रकृति के गोद में इनका लालन-पालन होता है और इनकी गोद में प्रकृति का। इनकी अपनी स्वतंत्र सत्ता थी। जल, जंगल, जमीन और प्रकृति के अन्य संसाधनों पर उनका आधिपत्य था। ये प्रकृति पूजक जाति हैं। आदिवासियों के जीवन में कर्मकांड नहीं हैं। ये सिर्फ प्रकृतिपरक अनुष्ठान करते हैं। चाँद, सूर्य, पृथ्वी आदि की आराधना ही इनके लिए सर्वोपरी हैं। उनकी परंपराएँ अलग हैं- 'प्रकृति की पूजा और सामूहिक जीवन व्यतीत करना।' ये लोग प्रकृति के सानिध्य में हर्षोल्लास एवं आनंदमय जीवन व्यतीत कर रहे थे तो सवाल यह उठता है कि जीवन की जो मूल-भूत सुविधायें हैं, वे प्रकृति से प्राप्त हो जाती थी; सुखमय जीवन बीत रहा था तो फिर इन्हें अपने ही अधिकारों एवं अस्मिता के लिए क्यों संघर्ष करना पड़ा और किससे करना पड़ा?

20वीं शदी के अंतिम दशकों में आदिवासियों पर सबसे अधिक बाजारवाद और भूमंडलीकरण का प्रभाव पड़ा है। 1991 के बाद बाजारवाद एवं पूंजीपति वगों न इनकी सभ्यता एवं संस्कृति का व्यापक स्तर पर दोहन एवं शोषण करना शुरू कर दिया। भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए बड़े पैमाने पर जंगल काटकर लकड़ी का व्यापार करना आरंभ कर दिया। जमीनों पर बड़े-बड़े कारखानें खोले जाने लगे। जिन नदियों से वे लोग अपनी छोटी-छोटी जरूरतों को पूरा करते थे, उन्हें इससे वंचित कर दिया गया। सघन जंगल नहीं रहने के वजह से पानी की लगातार कमी होते जा रही थी। अनाज बोना कम हो गया था। उनके हालात जर्जर होते जा रहे थे।

भारत में शुरू हुए उदारीकरण और मुक्त व्यापार की व्यवस्थाओं ने शदियों से संरक्षित आदिवासियों की संपदा को लूट कर अंदर से गुफा की तरह खोखला बना दिया। विशाल एवं अत्यंत शक्तिशाली बहुराष्ट्रीय एवं देशी कंपनियों ने अस्त्र एवं शस्त्र के बल पर जल, जंगल और जमीन पर उनका जो रैयती अधिकार था उससे उन्हें वंचित कर दिया गया। जंगल उजाड़े गए, घर उजाड़े गए और बड़े-बड़े कारखाना खोल दिए गए। इसने आदिवासी इलाकों में बड़े पैमाने पर विस्थापन को जन्म दिया। झारखंड, छत्तीसगढ़, दार्जिलिंग आदि इलाकों से बड़ी संख्या में लोग बड़े महानगरों जैसे दिल्ली, कोलकाता मुंबई आदि में आने को विवश इन आदिवासी लोगों के पास न धन था, न ही आधुनिक सोच एवं शिक्षा थी। शहरों में इनका वजूद मात्र मामूली-सा मजदूर एवं नौकर भर ही रह गया था। विशालकारी महानगरों ने इनकी सभ्यता, संस्कृति, लोकगीतों और साहित्य को भी निगल लिया। यहाँ तक की उनकी जो भाषा है वह भी छिनी जा रही थी।

बाद में नयी पीढ़ी के कुछ आदिवासी युवाओं ने शिक्षा हासिल की और अवसरों का लाभ उठाकर सामर्थ्य अर्जित किया। उनके समुदाय के लोगों पर जो अत्याचार हुआ था, उसका बोध शिक्षित लोगों को होने लगा। उन्होंने सचेत रूप से अपने समाज के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक हितों की रक्षा के लिए आवाज उठाना आरंभ कर दिया। अपनी अस्मिता को बनाए रखने के लिए उन्होंने संगठन भी बनाए। अपने हितैषी, नेतृत्व करने वाले नेताओं की पहचान की। साथ ही समर्थ आदिवासी साहित्य का पूनर्मूलन भी हुआ। अपने पूर्वजों पर हुए अत्याचार उनके जहन में आक्रोश का ज्वार भर दिया था। और यही आक्रोश ज्वालामुखी की तरह विस्फोट होकर अपनी अस्मिता, अधिकार आदि की बात करने लगती हैं। बाजारवाद ने संशय और आक्रोश आदिवासियों में पैदा कर दिया और यही से आदिवासी-विमर्श का दौर चल पड़ा जो आदिवासी अस्मिता की पहचान, उनके अस्तित्व संबंधी संकटों और शोषकों के विरुद्ध जारी प्रतिरोध का साहित्य है।

ये संस्कृति, भाषाई आदि के आधार पर स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श से भिन्न हैं। दलितों के यहाँ अस्पृश्यता एवं सामाजिंकता की समस्या है लेकिन आदिवासियों के यहाँ अस्मिता की समस्या है। दलितों, शोषितों, पीड़ितों के महान कथाकार प्रेमचंद के साहित्यों में भी आदिवासी अपने अस्तित्व को नगण्य पाते हैं। प्रेमचंद के मात्र दो रचनाओं में ही आदिवासियों की थोड़ी-बहुत चित्रण देखने को मिलती हैं- गोदान और सद्गति में। भले ही प्रेमचंद ने आदिवासियों का चित्रण अपनी रचनाओं में नहीं किया है लेकिन, उनके समवर्गों की दयनीय दशा एवं व्यथा को व्यापक स्तर पर चित्रित किया है, जो आदिवासियों की स्थितियों से अलग नहीं है।

भूमंडलीकरण के दौर में आज शिक्षा का प्रचार-प्रसार होने से आदिवासी समाज में भी जागृति आई है। आज वे अपने जीवन एवं साहित्य को प्रमुख रूप से जनता के समक्ष लाना चाहते हैं। आदिवासी समाज के लोगों का अन्य समाज के लोगों से मिलना-जुलना बढ़ा है। आज आदिवासी साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा जा रहा है, जिससे आदिवासियों के प्रति लोगों का नजरिया बदल रहा है। साहित्य समाज का दर्पण होता है, इसलिए जैसा समाज होगा उसी प्रकार का साहित्य रचा जाएगा।

"आदिवासी साहित्य जीवन का साहित्य है। वह प्रकृति का सहयोगी, सह-अस्तित्व का अभ्यस्त, ऊँच-नीच, भेद-भाव व छल-कपट से दूर है। वह जमाखोरी या सम्पत्ति जुटाने की भावना से मुक्त है। वह अन्याय का विरोधी और सामाजिक न्याय का पक्षधर है। उसके साहित्य में इन्हीं सबकी अभिव्यक्ति है। जीवन की समस्याएँ और प्रकृति से लगाव उसके साहित्य का आधार है।"(2))

(हिन्दी में आदिवासी-विमर्श सबसे नया विमर्श है। आदिवासी से संबंधित पहले की रचनाओं में उनके अस्तित्व का चित्रण अंशतः ही किया गया है। पिछले ढ़ाई दशकों के दौरान उदारीकरण एवं वैश्विकरण की तेज होती प्रक्रिया के साथ बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हस्तक्षेप से आदिवासियों का जीवन क्षिन्न-भिन्न हो गया। उनके इस संघर्ष में राजसत्ता एवं प्रशासन का हस्तक्षेप बहुराष्ट्रीय कंपनियों एवं कॉर्पोरेट्स के पक्ष में तथा आदिवासियों के विरुद्ध रहा। इस कुशासन के राज में यदि वे अपनी अस्मिता एवं सांस्कृतिक पहचान को अहमियत देते तो उनका अस्तित्व खतरे में पड़ सकता था। प्रचलित कहावत भी है- 'जिसकी लाठी उसकी भैंस।' लेकिन जो विपरित परिस्थितियों में भी संघर्ष करता है, वही परिवर्तन ला सकता है।

(आदिवासियों के संघर्ष भरे इतिहास में जब कभी भी परिवर्तन शब्द सूनने को मिलेंगे तो सबसे पहले महान क्रांतिकारी, देशभक्त बिरसा मुंडा का चेहरा उभरकर सामने आता है। इन्हें जनजातियों के 'भगवान' के रूप में लोग जानते हैं। महादेवी श्वेता ने इनके संघर्षों एवं अद्वितीय योगदानों का जीवंत चित्रण 'अरण्येर अधिकार' (जंगल के दावेदार) में किया है। 'अरण्येर अधिकार' आदिवासियों के अस्तित्व, अस्मिता, संघर्षों एवं सशक्त विद्रोह की महागाथा है।

मुंडा जनजाति में समानता, न्याय और आजादी के आंदोलन का सूत्रपात बिरसा ने अंग्रेजों के खिलाफ किया था। बिरसा मुंडा का विद्रोह सिर्फ अंग्रेजी शासन के विरुद्ध नहीं था, अपितु समकालीन सामंती व्यवस्था के विरुद्ध भी था। मुंडा जनजातियों के लोगों ने जंगलों को काटकर 'खुटकट्टी गाँव बसाया

था। इनका भरण-पोषण एवं आय का स्त्रोत जमीन ही था। वे स्वयं जमीन के मालिक हुआ करते थे। लेकिन कुछ लालची जमींदारों ने उनके जमीन पर आधिपत्य जमा लिया। अपनी ही जमीन में वे अप्रवासी मजदूरों की तरह मजदुरी करने को विवश थे। इन आदिवासियों की खेती-बारी एवं ग्रामीण व्यवस्था बिखरने लगी। सरकारी नीतियों के कारण जंगल के वास्तविक अधिकारी अपने जमीन से हाथ धो बैठे। अब उन्हें अपनी ही जमीन के लिए लगान देना पट रहा था। लगान चुकाने के लिए उन्हें कर्ज लेना पड़ा और कर्ज न चुका पाने की वजह से वे अपने ही जमीन से बेदखल होते गए। जंगल के आदिवासी या वनबासी मालिक दमन एवं शोषण का शिकार हो गरीबी के गहरे खाई में पहुँच गए। इतना ही नहीं जमींदारों से जमीन छुड़वाने के नाम पर ईशाई मिशनरी ने मुंडाओं का धर्मान्तरण करना भी शुरू कर दिया। फिर भी वे मुंडाओं और उनकी संस्कृति को तुच्छ दृष्टि से देखते थे। उनकी संस्कृति एवं धर्म पर प्रबल प्रहार किया गया। ये वो दौर था जब मुंडा जनजातियों एवं आदिवासियों पर असहनीय अत्याचार ब्रिटीश शासक एवं सामंती व्यवस्थाओं द्वारा किया गया। उनकी अस्मिता एवं अस्तित्व संकट में थे। उनकी रक्षा करने एवं इस संकट से उबारने के लिए मसीहा बिरसा मुंडा की हुंकार ने टूट चुके आदिवासियों में एक नया जोश, चेतना एवं प्राणशक्ति फेंक दी। बिरसा मुंडा को अपनी भूमि, संस्कृति से गहरा लगाव था। जब वे स्कूल में पढ़ते थे तब मुंडा सरदारों की छिनी गई भूमि पर उन्हें दुःख था या कह सकते हैं कि बिरसा मुंडा आदिवासियों के भूमि आंदोलन के समर्थक थे तथा वे वाद-विवाद में हमेशा प्रखरता के साथ आदिवासियों की जल, जंगल और जमीन पर हक की वकालत करते थे। यही वह दौर था जिसमें बिरसा मुंडा पर संथाल विद्रोह, चुआर आंदोलन, कोल विद्रोह का भी व्यापक प्रभाव पड़ा। अपनी जाति की दुर्दशा, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक अस्मिता को खतरे में देख उनके मन में क्रांति की भावना जाग उठी। उन्होंने मन ही मन संकल्प लिया कि मुंडाओं का शासन एवं सम्मान वापस लाएँगे तथा अपने लोगों में जागृति पैदा करेंगे।

मुंडा आदिवासियों के अस्तित्व एवं अधिकार की लड़ाई में हजारों की संख्या में आदिवासी शहीद हुए। अंततः अंग्रेजों तथा जमींदारों के खिलाफ, उनके शोषण के खिलाफ तथा अपने अधिकारों की मांग कराते हुए बिरसा मुंडा ने 26 वर्ष की अल्पायु में ही प्राण निछावर कर दिया। बिरसा मुंडा के नेतृत्व में 19वीं सदी के आखिरी दशक में किया गया 'मुंडा विद्रोह' सर्वाधिक महत्वपूर्ण जनजातीय आंदोलनों में से एक है। इसे उलगुलान (महान हलचल) नाम से भी जाना जाता है। भले ही यह विद्रोह असफल रहा, लेकिन इसकी चिनगारी भारत के कई प्रदेशों के आदिवासी, दलित, दमित, पीड़ित लोगों के अंदर प्रज्वलित होना शुरू कर दिया था। लोगों ने अपने अधिकार के लिए आवाज उठाना शुरू कर दिया था। बिरसा मुंडा के इन पक्षों को सहेजकर साहित्य और इतिहास में प्रकाशित करने का श्रेय महाश्वेता को ही है। महाश्वेता को जब 'अरण्येर अधिकार' उपन्यास के लिए 1979 में साहित्य अकादमी मिला तो आदिवासियों ने जगह-जगह ढाक् बजा-बजाकर गया था हमें साहित्य अकादमी मिला है। आदिवासी वक्ताओं ने कहा था- मुख्यधारा ने हमें कभी स्वीकृति नहीं दी। हम इतिहास में नहीं थे।

उल्लेखनीय है कि यूनेस्कों ने भारत की जिन 196 को जन-भाषाओं के अस्तित्व को खतरे में बतलाया, उनमें अधिकांश भारत की आदिवासी भाषाएँ हैं। यही वह पृष्ठभूमि है जिसमें आदिवासियों की अस्तित्वगत बेचौनी ने एक पृथक एवं स्वतंत्र धारा के रूप में आदिवासी विमर्श की संभावनाओं को बल प्रदान फिया। इसके परिणाम स्वरूप दलितों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए आदिवासियों की समस्याओं पर लेखन की दिशा में खुद आदिवासियों ने ही पहल की।

मुख्य धारा के साहित्यकारों के उपेक्षा से जो असंतोष उपजा इसके संदर्भ में हरिराम मीणा ने कहा है कि "हिन्दी साहित्य के प्रतिष्ठित लेखकों से हमें अपेक्षा थीं कि वे स्त्री, दलित, अल्पसंख्यक आदिवासी एवं हाशिए पर डाली जाती रही अन्य अस्मिताओं को अपेक्षित अभिव्यक्ति देते, वह अपेक्षा पूरी नहीं हुई। यही वजह है कि इन अस्मिताओं से जुड़े लेखकों को एक मुहिम के तौर पर हिंदी साहित्य में हस्तक्षेप करना पड़ा और अपनी पहचान बनाने के लिए जूझना पड़ा।" (3)

आदिवासी साहित्य के उभार की प्रक्रिया को और अधिक स्पष्ट करते हुए गंगा सहाय मीणा ने कहा है कि "1991 के बाद आर्थिक उदारीकरण की नीतियों से तेज हुई आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर पैदा हुई रचनात्मक ऊर्जा आदिवासी साहित्य है। " (4)

पिछले दो दशकों में हिन्दी संसार में आदिवासी लेखकों, विशेषकर झारखंड प्रांत के लेखकों ने अपनी पैठ और पहचान बनाई है। आज आदिवासी कलम की धार आंचलिक, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तर तक असरदार बन चुकी है। अगर आदिवासी-विमर्श को साहित्य-लेखन के धरातल पर देखें तो आदिवासी रचनाशीलता मुख्य रूप से कविता, कहानी, उपन्यास और संस्मरण के धरातल पर प्रकट होती हैं। हिन्दी उपन्यास में आदिवासी-विमर्श में पहले-पहल रेणु के आंचलिक उपन्यास 'मैला आँचल' में देख सकते हैं। जब आदिवासी अपने जमीनी हक से बेदखल संथालों को अपने स्वत्व और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते देखा; यहीं उसका परिचय आदिवासियों की जिजीविषा और जीवटता से भी हुआ और यह भी देखा गया कि प्रशासन की बेरुखी और जुल्म का शिकार होने के बावजूद माँदर एवं डिग्गे की आवाज बंद नहीं हो पाई। लेकिन, एक सच्चे हमदर्द की तरह पीड़ित संथालों के प्रति सहानुभूति के बावजूद यह संघर्ष तार्किक परिणति तक नहीं पहुँच पाता। फलतः उनके जीवन में बदलावों को ला पाने में असमर्थ रहता है। रेणु की समाजवादी, यथार्थवादी चेतना और यथार्थवादी आग्रह उन्हें इस समस्या का काल्पनिक एवं आदर्शपरक समाधान देने से रोक देता है।

आगे चलकर महाश्वेता देवी के उपन्यास 'हजार चौरासी की माँ' एक सशक्त एवं प्रभावी हस्तक्षेप के साथ अपनी उपस्थिति दर्ज करवायी और नक्सलवाद को लेकर एक नए नजरिए से हिन्दी जगत को रूबरू करवाया। उन्होंने यह बतलाने की कोशिश की कि नक्सली हिंसा ऐतिहासिक परिस्थितियों और एक लम्बे समय से चले आ रहे ऐतिहासिक अन्याय की उपज है। अपने उपन्यासों में महाश्वेता देवी ने आदिवासियों की विद्रोही चेतना को अभिव्यक्ति देते हुए हिन्दी के पाठकों को बिरसा मुंडा जैसे महानायक से परिचित करवाया। इसकी चर्चा मैंने उपर्युक्त की है।

आठवें दशक में वाल्टर भेंगरा ने झारखंड अंचल और वहाँ के जीवन को केन्द्र में रखते हुए 'सुबह की शाम' उपन्यास लिखा जो आदिवासियों के द्वारा लिखा गया पहला हिन्दी उपन्यास है।

पीटर पाल एक्का के बहुचर्चित उपन्यास 'जंगल के गीत' में एक्का ने बिरसा मुण्डा के उलगुलान के संदेश को तुंबा टोली गाँव के युवक करमा और उसकी प्रिया करनी के माध्यम से पहुँचाने कोशिश की।

कहाँ गया वह परदेशी

जो शादी का ढोंग रचाकर

तुम्हारी बहन के साथ

साल-दो-साल रहकर अचानक गायब हो गया?

आदिवासी विमर्श को कहानी-विधा में उद्घाटित करने की कोशिश की गई है। वाल्टर भँगरा के कहानी संग्रह 'देने का सुख' एवं 'लौटती रेखाएँ' आठवें दशक में पीटर पाल एक्का के प्रकाशित कहानी संग्रह 'खुला आसमान बंद दिशाएँ', 'परती जमीन' एवं 'सोन पहाड़ी' आदि महत्वपूर्ण है।

हिन्दी साहित्य में आदिवासी स्त्रियों की व्यथा का चित्रण अपेक्षाकृत कम हुआ है। जहाँ कहीं आदिवासी स्त्री का चित्रण हुआ है, वहाँ हम आदिवासी स्त्री को मात्र स्वच्छंद यौन की वस्तु, लुटी-पिटी और क्षत-विक्षत रूप में चित्रित किया हुआ ही देखते हैं। इससे आहत होकर डॉ० वीपी केशरी लिखते हैं-"लोगों ने रोमांटिक होकर और गिद्ध, दृष्टि से आदिवासियों पर ज्यादा लिखा है। अनेक बाहरी लेखकों ने तो हमारा अहित करने वालों को उद्धारक और हमारे नायकों को अपराधी चित्रित किया है। उनका लेखन हमारी औरतों के बलात्कार के बिना उत्कृष्ट और कलात्मक नहीं होता। "(7)

इसी संदर्भ में वंदना टेटे लिखती हैं- "भारतीय साहित्य में आदिवासी महिलाएँ परदेशी के प्रेम में देह सौपती, दाई, आया, सेविका आदि के रूप में मार खाती, बलात्कार भोगती हुई ही दिखाई देती हैं। अस्मिता, स्वशासन और आत्म-निर्णय के अधिकार के लिए संघर्ष करती हुई आदिवासी स्त्रियाँ साहित्य और फिल्मों में एकसिरे से गायब हैं।"(8)

जिस प्रकार दलित साहित्य में स्त्री के सवालों को पीछे छोड़ा गया है; इसी कारण अलग से दलित स्त्री विमर्श की आवश्यकता महसूस हुई और यही स्थत वर्तमान में आदिवासी साहित्य में स्त्री की है। निर्मला पुतुल अपनी कविता में कहते हैं कि 'कुछ पैसे के खातिर अपने ही गाँव के बहन बेटियों को बेचते हैं और लकड़ी की गठरी की तरह गाड़ी में लड़की को लादकर शहर ले जाते हैं।' निर्मला पुतुल ने यहाँ आंतरिक शत्रुओं का चित्रण किया है। आज भी आदिवासी स्त्रियाँ अपनी अस्तित्व एवं पहचान के लिए संघर्षरत है।

निष्कर्ष:-

स्पष्ट है कि आदिवासियों में विद्रोह एवं विमर्श की भावना जातिगत भेदों, अंग्रेजी शासकों, जमींदारों, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के द्वारा उनके जल, जंगल और जमीन पर कब्जा एवं उन पर किए गए अत्याचार से उत्पन्न हुई है। अज्ञानता और पिछड़ेपन के कारण उन्हें सताया गया है। आर्थिक तंगी की वजह से जगह-जगह भटकना पड़ा जीवनयापन के लिए। उनकी सभ्यता एवं संस्कृति पर व्यापक प्रहार किए गए। जमींदारों से जमीन छुड़ाने का लोभ देकर ईसाई मिशनरी के द्वारा उनका धर्मान्तरण किया गया। सभ्य समाज (दिकुओं) के द्वारा तिरस्कृत किया गया।

आज भले ही आदिवासियों की रचनाओं में एक प्रकार की अनगढ़ता साहित्यिक शैली एवं कलात्मकता का अभाव है, पर इसका महत्व इस बात में है कि इसने मुख्यधारा के द्वारा उपेक्षित होने के बावजूद आदिवासियों की व्यथा, अस्तित्व अस्मिता और उनकी दयनीय स्थिति एवं संघर्षों से समाज को परिचित करवाने की अनवरत कोशिश की।

उल्लेखनीय है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यताओं में सभी और आदिवासी संस्कृति और परम्परायों की छाप है। बावजूद इसके ये तथ्य आम लोगों की जानकारी में बहुत कम हैं। बाजारवाद के नाम पर इस मनमानी. का देश सिर्फ आदिवासियों को ही नहीं, संपूर्ण मानव प्रजाति के साथ-साथ अन्य जीव-जन्तुओं पर भी पड़ा है। यह सम्पूर्ण सृष्टि के लिए अपूरणीय क्षति है।

संदर्भ-सूचीः

1. "आदिवासी साहित्य के लिए आदिवासी दर्शन जानना जरूरी", 4 जुलाई 2017, अभिगमन तिथि 4 जुलाई 2017 ख्मृत कड़ियाँ,

2. जपानीस साहित्य एवं संस्कृति, संपादक विशाला शर्मा/दत्ता कोल्हरे, पृ0 21

3. अस्मिता ही नहीं अस्तित्व का सवाल हरिराम मीणा

4. आदिवासी साहित्य विमर्शः चुनौतियाँ और संभावनाएँ- गंगा सहाय मीणा (फारवर्ड प्रेस, बहुजन साहित्य वार्षिक, अप्रैल, 2013 अंक में प्रकाशित)

5. जनेऊ साहित्याः विविध आयाम, सं0 डॉ0 रमेश संभाजी कुरे0 डॉ. मालती घोड़ोपंत शिंदे संप्रदाय, पृ0 41

6 . जपानीस साहित्यः विविध आयाम सं0 डॉ0 रामेश संभाजी कुरे डॉ0 मालती घाडोपंत शिंदे/प्रचार्य अविनाश राव शिंदे, पृ0 40-41

7. टेटे, वंदनाः आदिवासी साहित्य परम्परा और प्रयोजन, प्यारा, केरकेट्टा फाउडेशन, रांची (झारखंड), संस्करणः 2013, पृ० 71